[2014] 13 एस. सी. आर 581

डॉ. सुब्रमण्यन स्वामी

बनाम

अरुण शौरी

(अवमानना याचिका (अपराधिक) 1990 का संख्या 11)

23 जुलाई, 2014

[आर.एम. लोधा, भारत के मुख्य न्यायाधीश, अनिल आर. डेव, सुधांशु ज्योति मुखोपाध्याय, दीपक मिश्रा और शिवा कीर्ति सिंह, न्यायाधीशगण]

न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971:

धाराएँ 10 ए और 15 भारत के संविधान का अनुच्छेद 129 के साथ पठित-अवमानना कार्यवाही-रख-रखाव-सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश की अध्यक्षता में जांच आयोग अधिनियम, 1952 के तहत गठित आयोग की रिपोर्ट की आलोचना करने के कार्य के लिए-आयोजितः1952 के अधिनियम के तहत नियुक्त आयोग सांविधिक आयोग की प्रकृति का होता है-यह वास्तव में एक तथ्य-खोज निकाय है-पक्षकारों के अधिकारों पर निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं है और इसका कोई न्यायिक कार्य नहीं है-इसके निष्कर्षों का कोई बाध्यकारी प्रभाव नहीं है-इसलिए, ऐसा आयोग 1971 के अधिनियम के उद्देश्य के लिए एक न्यायालय नहीं है-केवल इसलिए कि ऐसा आयोग सर्वोच्च न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश की अध्यक्षता में है, यह सर्वोच्च न्यायालय की एक विस्तारित शाखा नहीं बन जाता है-वर्तमान अवमानना कार्यवाही शुरू नहीं की जा सकती थी -धारा 10 ए उच्च न्यायालय का संदर्भ देकर

आयोग को रचनात्मक अवमानना की शक्ति प्रदान करता है-स्वतः संज्ञान अवमानना कार्यवाही शुरु की गई एवं धारा 15 के तहत खारिज की गई- अनुच्छेद 129।

धारा 13 (जैसा कि 2006 के अधिनियम 6 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है)-अवमानना कार्यवाही में बचाव के रूप में सत्य-आयोजितःन्यायालयों को सत्य को एक बचाव के रूप में अनुमति देनी चाहिए, यदि यह संतुष्ट है कि यह जनहित में है और उक्त बचाव का आह्वान करने का अनुरोध प्रामाणिक है।

शब्द और वाक्यांश-'न्यायालय'-अर्थात्, न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971 के संदर्भ में-प्रत्येक न्यायालय में कम से कम तीन घटक भाग होने चाहिए-'कर्ता', 'कारण' और 'न्याय' अर्थात शिकायतकर्ता, प्रतिवादी और न्यायिक शक्ति-जांच आयोग अधिनियम के तहत गठित आयोग न्यायालय के प्रमुख परीक्षणों को पूरा नहीं करता है।

प्रत्यर्थी ने एक संपादकीय प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने जांच आयोग अधिनियम, 1952 के तहत गठित जांच आयोग के अध्यक्ष के रूप में न्यायमूर्ति कुलदिप सिंह (उच्चतम न्यायालय के एक मौजूदा न्यायाधीश) द्वारा दी गई रिपोर्ट की आलोचना की थी।

सम्पादकीय को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 129 के तहत स्वतः संज्ञान अवमानना याचिका शुरू की। अपीलार्थी ने न्यायालय की अवमानना अधिनियम 1971 की धारा 15 के तहत भी प्रत्यर्थी के खिलाफ अवमानना याचिका दायर की। 15 प्रत्यर्थी के खिलाफ न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971।

भारत के मुख्य न्यायाधीश ने महान्यायवादी की राय प्राप्त की, जिन्होंने कहा कि संपादकीय ने प्रथम दृष्टया स्वीकार्य आलोचना की सीमाओं को पार कर लिया है और

अवमानना का कानून, जैसा कि देश में मौजूद था, बचाव के रूप में सच्चाई का प्रावधान नहीं करता है और इसलिए स्पष्टीकरण के लिए नोटिस जारी किया जा सकता है।

दोनों अवमानना मामलों को दो प्रमुख प्रश्नों पर निर्णय लेने के लिए संविधान पीठ को भेजा गया था अर्थात् (i) क्या सत्य को अवमानना कार्यवाही में बचाव के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है?और (ii) जब केंद्र सरकार द्वारा 1952 के अधिनियम के तहत उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश को आयुक्त के रूप में नियुक्त किया जाता है, तो क्या वह अपने साथ सर्वोच्च न्यायालय की सभी शक्तियों और अधिकार क्षेत्र को रखता है?

अवमानना याचिकाओं को खारिज करते हुए, न्यायालय ने

माना कि: 1. अवमानना कार्यवाहियों में बचाव के रूप में सच्चाई के संबंध में कानूनी स्थिति का न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971 (2006 के अधिनियम 6 द्वारा प्रतिस्थापित) की धारा 13 द्वारा वैधानिक रूप से निपटारा किया जाता है। खंड 13 (बी), स्पष्ट रूप से प्रदान करता है कि सत्य अवमानना कार्यवाही में वैध बचाव हो सकता है। न्यायालय सत्य को बचाव के रूप में अनुमति दे सकता है, यदि दो चीजें संतुष्ट हैं, अर्थात्, ((i) यह जनहित में है और (ii) उक्त बचाव का आह्वान करने का अनुरोध प्रामाणिक है। [पैरा 13 से 15] [594-बी; 595-बी; एफ]

अप्रत्यक्ष कर व्यवसायी संघ बनाम आर. के. जैन **(2010) 8 धारा 281-पर भरोसा किया गया।**

एम्बर्ड बनाम त्रिनिदाद और टोबैगो के लिए अटॉर्नी-जनरल **(1936) एसी 322;** नेशनवाइड न्यूज पीटीवाई लि. बनाम विल्स **(1992) 177 सी. एल. आर. 1-संदर्भित।**

2.1. जांच अधिनियम, 1952 के तहत नियुक्त आयोग एक न्यायालय नहीं है एवं आयोग द्वारा तथ्यों की जांच या निर्धारण करना न्यायिक चरित्र का नहीं है। [पैरा 23]

2.2. यद्यपि न्यायालय अवमानना अधिनियम 'न्यायालय' शब्द को परिभाषित नहीं करता है, लेकिन उस अधिनियम के तहत 'न्यायालय' का अर्थ है वह प्राधिकरण जिसके पास निर्णय देने की कानूनी शक्ति है, जिसकी यदि किसी अन्य प्राधिकरण द्वारा पुष्टि की जाती है, तो यह निश्चित होगा। न्यायालय एक ऐसी संस्था है जिसके पास निश्चित निर्णयों के वितरण द्वारा कानूनी अधिकारों को विनियमित करने और कानूनी प्रतिबंधों द्वारा अपने आदेशों को लागू करने की शक्ति है और यदि इसकी प्रक्रिया साक्ष्य लेने और शपथ के प्रशासन जैसे मामलों में न्यायिक है, तो यह एक न्यायालय है। 1952 के अधिनियम के तहत गठित आयोग न्यायालय के इन पूर्व-प्रतिष्ठित परीक्षणों को पूरा नहीं करता है। [पैरा 25] [602-बी-डी]

2.3. प्रत्येक न्यायालय में कम से कम तीन घटक भाग होने चाहिए-'अभिनेता', 'रियूस' और 'जुडेक्स':8 'कर्ता', जो की गई चोट की शिकायत करता है; 'कारण' या प्रतिवादी, जिसे संतुष्ट करने के लिए बुलाया जाता है; और 'न्यायिक' या न्यायिक शक्ति, जो तथ्य की सच्चाई की जांच करने और तथ्य पर उत्पन्न होने वाली कानून का निर्धारण करने के लिए है और यदि कोई चोट की गई प्रतीत होती है, तो इसका पता लगाने के लिए और इसके अधिकारियों द्वारा उपचार लागू करने के लिए। [पैरा 26] [602-ई-एफ]

2.4. 1952 अधिनियम के अधीन नियुक्त एक आयोग एक सांविधिक आयोग की प्रकृति का है और केवल क्योंकि एक जांच आयोग की अध्यक्षता सर्वोच्च न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश द्वारा की जाती है, यह इस न्यायालय की एक विस्तारित शाखा नहीं बन जाता है। 1952 के अधिनियम के तहत गठित आयोग एक तथ्य-खोज निकाय है जो उपयुक्त सरकार को पालन की जाने वाली कार्रवाई के बारे में निर्णय लेने में सक्षम बनाता है। ऐसे आयोग को पक्षकारों के अधिकारों पर निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं है और इसका कोई न्यायिक कार्य नहीं है। सरकार इसकी सिफारिशों को स्वीकार करने या इसके निष्कर्षों

पर कार्रवाई करने के लिए बाध्य नहीं है। केवल यह तथ्य कि आयोग द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया एक कानूनी चरित्र की है और उसके पास शपथ दिलाने की शक्ति है, इसे न्यायालय का दर्जा नहीं देगा। ऐसा होने पर, 1952 के अधिनियम के तहत नियुक्त आयोग न्यायालय की अवमानना अधिनियम के प्रयोजनों के लिए एक न्यायालय नहीं है, भले ही इसकी अध्यक्षता उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश कर रहे हों। [पैरा 34] [608-बी-ई]

भारत बैंक लिमिटेड, दिल्ली बनाम भारत बैंक लिमिटेड, दिल्ली के कर्मचारी **1950 एस. सी. आर. 459 ए. आई. आर. 1950 एस. सी. 188-इसके बाद आया।**

ब्रजनंदन सिन्हा बनाम ज्योति नारायण **(1955) 2 एस. सी. आर. ए. 955;** मकबूल हुसैन बनाम बॉम्बे राज्य **1953 एस. सी. आर. 730 = ए. आई. आर. 1953 एस. सी. 325;** एस. ए. वेंकटरमन बनाम भारत संघ **1954 एस. सी. आर. 1150 = ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 375;** श्री राम कृष्ण दफमिया बनाम न्यायमूर्ति श्री एस. आर. तेंदोलकर और अन्य **1959 एस. सी. आर. 279;** डॉ. बलिराम वामन हिराय बनाम न्यायमूर्ति बी. लेंटिन और अन्य। **1988 (2) पूरक एस. सी. आर. 942 = (1988) 4 धारा 419-पर निर्भर था।**

हडर्ट पार्कर एंड कंपनी पी.टी.वाई. लिमिटेड बनाम मूरहेड **8 सी. सी. एल. आर. 330;** ऑस्ट्रेलिया की शेल कंपनी, लिमिटेड बनाम फेडरल कमिश्नर ऑफ टैक्सेशन **(1931) एसी 275;** रोला कंपनी (ऑस्ट्रेलिया) पीटीवाई लिमिटेड बनाम राष्ट्रमंडल **69 सी. एल. आर. 185;** इन रे,श्री हेल्स, "द मेल" के संपादक और एक अन्य **ए. आई. आर. 1955 मद्रास 1;** पी. राजंगम, पुलिस उप-निरीक्षक और अन्य मद्रास राज्य और अन्य **ए. आई. आर. 1959 मद्रास 294;** एम. भी. राजवाड़े, आई.एल. ए. एस., जि.मजिस्ट्रेट बनाम डॉ. एस. एम. हसन और अन्य **ए. आई. आर. 1954 नागपुर 71-संदर्भित।**

2.5 इसके अलावा, 1952 के अधिनियम की धारा 10ए में कोई संदेह नहीं है कि उच्च न्यायालय को आयोग या उसके किसी सदस्य को बदनाम करने के लिए किए गए कार्यों के संबंध में शिकायत का संज्ञान लेने की शक्ति प्रदान की गई है। धारा 10ए इस न्यायालय में अपील करने के अधिकार के साथ उच्च न्यायालय को संदर्भित करके आयोग को रचनात्मक अवमानना की शक्ति प्रदान करती है। [पैरा 34] [608-ई-एफ]

वाद कानून संदर्भः

(1936) ए. सी. 322	**को संदर्भित**	**कंडिका 11**
(1992) 177 सी एल आर 1	**को संदर्भित**	**कंडिका 11**
(2010) 8 एस सी सी 281	**पर भरोसा किया**	**कंडिका 16**
1950 एस सी आर 459	**अनुसरण किया**	**कंडिका 27**
8 सी एल आर 330	**को संदर्भित**	**कंडिका 27**
(1931) ए सी 275	**को संदर्भित**	**कंडिका 27**
69 सी एल आर 185	**को संदर्भित**	**कंडिका 27**
(1955) 2 एस सी आर 955	**भरोसा किया**	**कंडिका 28**
1953 एस सी आर 730	**भरोसा किया**	**कंडिका 28**
1954 एस सी आर 1150	**भरोसा किया**	**कंडिका 28**
ए आई आर 1955 मद्रास 1	**को संदर्भित**	**कंडिका 30**
ए आई आर 1959 मद्रास 294	**को संदर्भित**	**कंडिका 31**

1959 एस सी आर 279	**भरोसा किया**	**कंडिका 32**
1988 (2) पूरक एस सी आर 942	**भरोसा किया**	**कंडिका 33**
ए आई आर 1954 नागपुर 71	**को संदर्भित**	**कंडिका 33.1**

आपराधिक मूल न्यायाधिकारः 1990 की अवमानना याचिका (आपराधिक) सं. 11

साथ में

अवमानना याचिका (आपराधिक) सं. 1990 का 12

मोहन परासरन, एस., अशोक एच. देसाई, अरविंद दातार, वरिय अधिवक्तागण, भरत संगल, सुश्री माधवी दीवान, सुश्री बीना गुप्ता, जी अभय ए. जेना और हर्ष देसाई, उपस्थित पक्षकारों के अधिवक्तागण, न्यायालय का निर्णय दिया गया।

आर.एम लोढ़ा भारत के मुख्य न्यायाधीश 1. इंडियन एक्सप्रेस के 13 अगस्त, 1990 के अंक में, एक संपादकीय, "यदि शर्म बच गई होती" के शीर्षक के साथ प्रकाशित की गई थी। सम्पादकीय इस प्रकार हैः-

"यदि शर्म बच गई होती"

कुलदिप सिंह आयोग के रिपोर्ट पर भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री वाई. भी. चन्द्रचूड़ की कानूनी राय एक आश्चर्यजनक अभियोग है। संक्षिप्त में श्रद्धापूर्ण बिंदु तक महत्व को कम कर कहा गया, तथ्यों एवं कानून का ईमानदारी से अनुपालन करते हुए आयोग के किसी भी उद्देश्य का थोड़ा सा भी आरोपण से पूरी तरह दूर रहते हुए राय एक ईमानदारी का एक प्रतिमान है। प्रतिवेदन में कोई "सबूत" नही बचा है कि इस बात पर सहमति व्यक्त की गई थी कि उस पर आधार के रुप में भरोसा करते हुए उस पर दबाव नहीं दिया जाएगा। एक गवाह, जो निर्णय का केन्द्र था का साक्ष्य पूर्णरुपेण उपेक्षित

"संभावित संभावना" पर लगाए गए अभियोग, दस्तावेजों एवं घोषणा में अर्थों के पठन के वास्ते उपज्ञात सिद्धान्तों, सीधे स्पष्टीकरण को अनदेखी करते हुए स्वयं आयोग के साथ - साथ ऊर्जावान अभियोजक ने खुद एक दिन घोषणा की कि किसी को भी रत्ती भर साक्ष्य नहीं था जिसने हेगड़े पर संदेह प्रकट किया एवं अगले ही दिन एक निष्कर्ष की घोषणा करते हुए, इस बहाने से आम गवाहों से प्रति - परीक्षण के लिए अस्वीकार करना कि आयोग के पास उन्हें आह्वाहन करने की शक्ति नहीं थी - यह इसके विपरीत स्पष्ट निर्णयों के होते हुए भी पुनः भारतीय साक्ष्य अधिनियम की एक धारा का आह्वाहन करते हुए जो मृत्यु पूर्व घोषणा करने वाले व्यक्ति पर लागू होता है, इस तथ्य को नजरअंदाज करते हुए कि जिस व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि उसे लाभ हुआ है, ने जो रुपया 55 लाख जमा किए थे, उसे खो दिया है संकेत देते हुए - एवं संकेत पर पूरे अभियोग का गठन करते हुए कि निर्माता ने एक रूख गढ़ा था, जब वास्तविक अभिलेख यह दर्शाता है कि वह सब कुछ खुलेआम एवं कानून द्वारा अपेक्षित सभी औपचारिकताओ के साथ कर रहा था। इस तथ्य को नजरंदाज करते हुए कि भूमि बिल्डर को अधिग्रहण की लागत के तीन गुना पर दी जानी थी एवं इससे ऊपर विकास शुल्क अधिग्रहण की लागत पर 4 से 6 गुना लगाया जाना था। पूर्णरूप से इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि भूमि कभी हस्तांतरित नहीं की गई थी एवं यह केवल तत्समय मुख्यमंत्री के इस आग्रह के कारण कि नियम बनाएं जाएं जिसके तहत ऐसे सभी मामले सप्रेसो वेरी सजेस्टो फाल्सी की सबसे लंबी संभावित सूची है। जिरह के लिए इनकार करना कि आयोग के पास उन्हें बुलाने की शक्ति नहीं थी-यह इसके विपरीत स्पष्ट निर्णयों के बावजूद; फिर भारतीय साक्ष्य अधिनियम की एक धारा का आह्वान करते हुए जो यह मृत्यु घोषणा करने वाले व्यक्ति पर लागू होता है; इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि जिस व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि उसे लाभ हुआ है, उसने 55 लाख रुपये खो दिए हैं जो उसने जमा किए थे; संकेत देते हुए-और संकेत पर एक पूर्ण अभियोग बनाते हुए-कि बिल्डर ने एक मोर्चा बनाया था, जब वास्तविक रिकॉर्ड से पता चलता है कि वह सब कुछ खुले तौर

पर और सभी औपचारिकताओं के साथ कर रहा था जो कानून द्वारा आवश्यक थी; इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि भूमि बिल्डर को अधिग्रहण की लागत के तीन गुना पर दी जानी थी और इसके ऊपर विकास शुल्क अधिग्रहण की लागत पर 4 से 6 गुना लगाया जाता था पूरी तरह से इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि भूमि कभी हस्तांतरित नहीं की गई थी और यह न केवल तत्कालीन मुख्यमंत्री के इस आग्रह के कारण स्थानांतरित किया गया कि नियम बनाए जाएं जिसके तहत ऐसे सभी मामलों से निपटा जाएगा। यह सप्रेसो वेरी सजेस्टो फाल्सी की सबसे लंबी संभावित सूची है।

यदि सम्मान या शर्म की कोई भावना होती, तो कोई न्यायाधीश ऐसा कभी नहीं करता। अगर सम्मान पर शर्म की कोई अवशिष्ट भावना होती, तो न्यायाधीश जिसने इनमें से पठन के वास्ते खोजे गए सिद्धांत एवं कोई भी कार्यान्वित किया हो और ऐसा करते हुए पाए जाने पर, उन्होंने अपनी सीट खाली कर दी होगी। लेकिन यह भारत है। 1990 के आयुक्त कुलदिप सिंह ने इस तरह की विकृतियों को अंजाम दिया था। अनगिनत नागरिकों के भाग्य और प्रतिष्ठा पर निर्णय लेना जारी रखें। वह भारत के सर्वोच्च न्यायालय से कुछ भी कम नहीं से ऐसा करना जारी रखेंगे।

हमारी हालत ऐसी ही है। और हम इतने असहाय हैं कि ऐसे "न्यायाधीश" के बारे में हम कुछ नहीं कर सकते। सिवाए एक चीज। ऐसे व्यक्तियों द्वारा नागरिकों को होने वाली चोटों को कम करने का एकमात्र तरीका यह है कि हम सभी उनके द्वारा दिए गए सभी अभियोगों या प्रमाण पत्रों को पूर्णतया जाँचे। केवल वही अभ्यास इन अभियोगों और प्रमाणपत्रों को उन विकृतियों के लिए दिखाएगा जो वे हैं और केवल इस तरह से उनके प्रभाव को कम किया जा सकता है। "किसके पास भारी-भरकम रिपोर्ट पढ़ने, सबूतों की छान-बीन करने का समय है? लेकिन अगर मुद्दा हमारे लिए इस पर एक राय बनाने के लिए पर्याप्त

है, यह हमारा कर्तव्य है कि हम इस तरह की रिपोर्टों की जांच करने के साथ-साथ उन्हें अंजाम देने वाले आयुक्तों के आचरण की भी जांच करने का समय निकालें।

2. ऐसा हुआ कि माननीय सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन न्यायाधीश न्यायमूर्त्ति कुलदीप सिंह को जाँच आयोग अधिनियम, 1952 (इसके पश्चात 1952 अधिनियम के रुप में संदर्भित) के तहत जाँच आयोग का अध्यक्ष के रुप में कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री, श्री रामकृष्ण हेगड़े के कथित चूक की जाँच के वास्ते नियुक्त किया गया। न्यायमूर्ति कुलदिप सिंह की अध्यक्षता वाले एक सदस्यीय आयोग ने 22.06.1990 को अपनी रिपोर्ट समर्पित की।

3. ये दो अवमानना मामले, एक डॉ. सुब्रमण्यम स्वामी द्वारा और दूसरा जो ऊपर उद्धृत इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित सम्पादकीय से स्वतः संज्ञान में उत्पन्न होता है। यह इस न्यायालय के अधिकार को कम करता है और साथ ही इसमें जनता के विश्वास को हिलाता है और इस न्यायालय की आपराधिक अवमानना के बराबर है। यह समर्पित किया जाता है कि जब तक यह न्यायालय तुरंत और यदि आवश्यक हो तो मामले में स्वतः संज्ञान लेते हुए, वर्तमान न्यायाधीश अपना बचाव करने में असहाय और असमर्थ होंगे और इस प्रक्रिया में, न्यायाधीशों और अदालतों में जनता का विश्वास कम हो जाएगा।

4. यहां यह ध्यान देने योग्य है कि भारत के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश ने इस मामले में भारत के अटॉर्नी जनरल की राय प्राप्त की थी। तत्कालीन महान्यायवादी श्री सोली सोराबजी ने दिनांक 27.08.1990 को अपनी राय में कहा कि संपादकीय ने, प्रथम दृष्टया, स्वीकार्य आलोचना की सीमाओं को पार कर लिया था और अवमानना का कानून, जैसा कि देश में मौजूद था, बचाव के रूप में सच्चाई का प्रावधान नहीं करता था और इसलिए, उनकी राय थी कि स्पष्टीकरण की मांग की गई थी और उस उद्देश्य के लिए एक नोटिस जारी किया जा सकता था। उनके विचार में, सवाल यह है कि क्या आयोग या 1952 के

अधिनियम के तहत नियुक्त आयुक्त की अवमानना किया जाना उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय की अवमानना के समान है, जिसका आयुक्त सदस्य है। इस मुद्दे की पुनरावृत्ति को देखते हुए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अधिकृत रूप से निपटाया जाना चाहिए।

5. 03.09.1990 को स्वतः संज्ञान अवमानना का मामला और डॉ. सुब्रमण्यम स्वामी द्वारा दायर अवमानना याचिका भी माननीय मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता वाली इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ के समक्ष विचार के लिए आई। 03.09.1990 की कार्यवाही इस प्रकार हैः

"इन रेः <u>अरुण शौरी और अन्य</u>

हमने 13 अगस्त, 1990 के "इंडियन एक्सप्रेस" के संपादकीय को देखा है। हमने इस मामले में भारत के महान्यायवादी की राय प्राप्त की है। हम मानते हैं कि संपादकीय के पैराग्राफ 2 और 3 अदालत की अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 2 (सी) में 'आपराधिक अवमानना' की परिभाषा के भीतर आते हैं। इसलिए हम निर्देश देते हैं कि कथित अवमानकर्ताओं को 8 अक्टूबर, 1990 को वापस करने योग्य नोटिस जारी किया जाए, जिसमें उनसे कारण बताने का आह्वान किया जाए कि क्यों उनके द्वारा प्रकाशित अपमानजनक संपादकीय के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 129 के तहत इस न्यायालय की अवमानना के लिए उनके खिलाफ कार्यवाही शुरू नहीं की जानी चाहिए। अवमानकर्ता 8 अक्टूबर, 1990 को व्यक्तिगत रूप से न्यायालय में उपस्थित होंगे। अवमानकर्ताओं को जारी किए जाने वाले नोटिस के साथ मामले में महान्यायवादी द्वारा दी गई राय की एक प्रति होनी चाहिए। वे अपने बचाव के समर्थन में 8 अक्टूबर, 1990 को या उससे पहले अपने शपथ पत्र दाखिल कर सकते हैं। भारत के महान्यायवादी को मामले की सुनवाई में अदालत में उपस्थित होने और सहायता करने के लिए नोटिस जारी करें।

अवमानना याचिका सं. 1990 काः

भारत के विद्वान महान्यायवादी ने 'करेंट' (अगस्त 25-31,1990) के एक मुद्दे की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिसमें एम. वी. कामत का एक लेख है। हम उस मामले पर बाद में अलग से विचार करेंगे।

डॉ. सुब्रमण्यम स्वामी बनाम श्री अरुण शौरी

8 अक्टूबर, 1990 को वापस करने योग्य नोटिस जारी करें जिसमें कहा गया हो कि अवमानना की कार्यवाही क्यों शुरू नहीं की जानी चाहिए।"

6. प्रत्यर्थी अरुण शौरी ने अपना जवाब हलफनामा 13.10.1990 को समर्पित किया, हम उचित स्थान पर कुछ देर बाद उनके बचाव और आपत्तियों का उल्लेख करेंगे। हालांकि, इस स्तर पर यह ध्यान देने के लिए पर्याप्त है कि जवाबी हलफनामे में, प्रतिवादी ने अनुरोध किया कि तथ्यों की संवेदनशील प्रकृति को देखते हुए, वह हलफनामे में उन तथ्यों को स्थापित करने से बचना चाहेगा, लेकिन उन्हें अदालत के अवलोकन के लिए एक सीलबंद लिफाफे में हस्ताक्षरित बयान के रूप में रखना पसंद करेगा, जिसे जवाबी शपथ-पत्र का एक अभिन्न भाग के रूप में माना जा सकता है। हालाँकि, अदालत ने 04.03.1991 को उनकी प्रार्थना को खारिज कर दिया और कहा कि प्रतिवादी द्वारा सुझाई गई प्रक्रिया यह एक स्वीकार्य प्रक्रिया नहीं थी और अभिवचनों के मान्यता प्राप्त रूप के साथ असंगत थी। प्रतिवादी को न्यायालय से सीलबंद कवर वापस लेने की स्वतंत्रता दी गई थी। उन्हें अतिरिक्त हलफनामा दायर करने का अवसर दिया गया था।

7. मामला कई लोगों के लिए निष्क्रिय रहा। 25.08.19983 को तीन न्यायाधीशों की पीठ ने निर्देश दिया कि इन मामलों को संविधान पीठ के समक्ष रखा जाए।

8. इस तरह ये मामले संविधान पीठ के समक्ष विचार के लिए सामने आए हैं। हमने श्री मोहन परासरन, विद्वान सॉलिसिटर जनरल और श्री अशोक एच. देसाई, प्रतिवादी के विद्वान वरिष्ठ वकील को सुना है।

9. यह तुरंत देखा जा सकता है कि विद्वान सॉलिसिटर जनरल और प्रतिवादी के विद्वान वरिष्ठ वकील ने दलीलों के दौरान सहमति व्यक्त की कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 129 के तहत अवमानना के लिए स्वतः संज्ञान शक्ति का प्रयोग करने के लिए 1971 के अधिनियम की धारा 20 में प्रदान की गई सीमा का कोई उपयोग नहीं है। हमारे सामने इस कानूनी स्थिति के बारे में कोई चुनौती नहीं है कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों पर कोई निहित या व्यक्त सीमाएं नहीं हैं और, इसलिए संविधान के अनुच्छेद 129 में किसी भी सीमा को नहीं पढ़ा जा सकता है।

10. विचार के लिए उत्पन्न होने वाले और हमारे उत्तर की आवश्यकता वाले दो प्रमुख प्रश्न इस प्रकार हैंः

(i) जब केंद्र सरकार द्वारा 1952 के अधिनियम के तहत उच्चतम न्यायालय के किसी वर्तमान न्यायाधीश को आयुक्त के रूप में नियुक्त किया जाता है, तो क्या वह सर्वोच्च न्यायालय की सभी शक्तियों और अधिकार क्षेत्र को अपने साथ ले सकता है?दूसरे शब्दों में, क्या उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा एक आयुक्त के रूप में किए जाने वाले कार्य विशुद्ध रूप से उच्चतम न्यायालय में निहित अधिकार क्षेत्र से स्वतंत्रत वैधानिक कार्य हैं?

(ii) क्या अवमानना की कार्यवाही में बचाव के रूप में सच्चाई का अनुरोध किया जा सकता है?

11. हम पहले दूसरे प्रश्न पर विचार करेंगे। कुछ सामान्य कानून करते है कि सत्य एक बचाव हो सकता है, अगर टिप्पणी सार्वजनिक लाभ के लिए भी थी। बहुत पहले में प्रिवी काउंसिल एम्बर्ड ने माना कि न्यायाधीशों या अदालतों की तर्कपूर्ण या वैध आलोचना अदालत की अवमानना नहीं है। प्रिवी काउंसिल ने कहाः

> "आलोचना का मार्ग एक सार्वजनिक तरीका है; गलत दिशा में जाने वालों को इसमें गलती करने की अनुमति दी जाती हैःबशर्ते कि जनता के सदस्य न्याय के प्रशासन में भाग लेने वालों पर अनुचित उद्देश्यों का आरोप लगाने से बचते हैं, और वास्तव में आलोचना के अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं, और द्वेष में कार्य नहीं कर रहे हैं या न्याय के प्रशासन को बाधित करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं, वे प्रतिरक्षित हैं। न्याय एक गुप्त गुण नहीं हैःउसे आम आदमी की टिप्पणियों के बावजूद, जांच और सम्मान का सामना करने की अनुमति दी जानी चाहिए।"

12. विल्स में ऑस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने सुझाव दिया कि सत्य एक बचाव हो सकता है यदि टिप्पणी सार्वजनिक लाभ के लिए भी हो। इसने कहा, "सत्य का रहस्योद्घाटन-सभी घटनाओं में जब इसका रहस्योद्घाटन जनता के लाभ के लिए होता है- और तथ्य के आधार पर एक निष्पक्ष आलोचना करना अदालत की एक अवमानना के समान नही है, भले ही सच्चाई सामने आई हो या आलोचना की गई हो, यह ऐसा हो जो अदालत या न्यायाधीश को जनता के विश्वास से वंचित करने के लिए हो।....."

13. अवमानना कार्यवाही में बचाव के रूप में सच्चाई के संबंध में कानूनी स्थिति अब 1971 के अधिनियम की धारा 13 (2006 के अधिनियम 6 द्वारा प्रतिस्थापित) द्वारा वैधानिक रूप से तय की गई है। 2006 के अधिनियम 6 द्वारा धारा 13 के संशोधन के लिए उद्देश्यों और कारणों का विवरण इस प्रकार हैः

"न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 के मौजूदा प्रावधान द्वारा विभिन्न न्यायिक निर्णयों में इस आशय की व्याख्या की गई है कि सत्य को न्यायालय की अवमानना के आरोप के बचाव के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

2. संविधान के कार्यकरण की समीक्षा करने वाले राष्ट्रीय आयोग (एन. सी. आर. डब्ल्यू. सी.) ने भी अपनी रिपोर्ट में, अन्य बातों के साथ-साथ, सिफारिश की है कि अवमानना के मामलों में, यह न्यायालय के लिए सत्य द्वारा औचित्य के बचाव की अनुमति देने के लिए खुला होगा।

3. सरकार को सलाह दी गई है कि न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 में संशोधन के तहत उपरोक्त प्रावधान प्रक्रिया में निष्पक्षता लाएगा और संविधान के अनुच्छेद 21 की आवश्यकताओं को पूरा करेगा।

4. न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 13 कुछ परिस्थितियों का प्रावधान करती है जिनके तहत अवमानना दंडनीय नहीं है। अतः उक्त धारा को एक संशोधन द्वारा प्रतिस्थापित करने का प्रस्ताव है।

5. अदालतों की अवमानना (संशोधन) विधेयक, 2003 को 8 मई, 2003 को लोकसभा में पेश किया गया था और इसे जांच के लिए गृह मामलों पर विभाग से संबंधित संसदीय स्थायी समिति को भेजा गया था। माननीय समिति ने 2 सितंबर, 2003 को आयोजित अपनी बैठक में उक्त विधेयक पर विचार किया। हालांकि, 13 वीं लोकसभा के विघटन के साथ, न्यायालयों की अवमानना (संशोधन) विधेयक, 2003 समाप्त हो गया। प्रारूपण प्रकृति के संशोधनों के साथ उक्त विधेयक को फिर से पेश करने का प्रस्ताव है।

14. खंड 13 (बी), अब स्पष्ट रूप से प्रदान करता है कि सत्य अवमानना कार्यवाही में वैध बचाव हो सकता है। धारा 13, जिसमें दो खंड (ए) और (बी) हैं, अब इस प्रकार हैः

"13. कुछ मामलों में अवमानना दंडनीय नहीं-उस समय लागू किसी भी कानून में कुछ भी निहित होने के बावजूद, -

(ए) कोई भी अदालत इस अधिनियम के तहत अदालत को अवमानना के लिए कोई सजा नही देगी - जब तक कि यह संतुष्ट नहीं हो जाता है कि अवमानना ऐसी प्रकृति की है कि यह काफी हद तक हस्तक्षेप करती है, या पर्याप्त रूप से न्याय के नियत पाठ्यक्रम में हस्तक्षेप करने के लिए प्रवृत्त होता है;

(बी) अदालत न्यायालय को सत्य द्वारा औचित्य किसी भी कार्यवाही की एक वैध बचाव के रुप में अनुमत कर सकता है यदि यह संतुष्ट है कि यह सार्वजनिक हित में है और उक्त बचाव का आह्वान करने का अनुरोध प्रामाणिक है।"

15. न्यायालय अब सत्य को बचाव के रूप में अनुमति दे सकता है यदि दो चीजें संतुष्ट हैं, अर्थात्, (i) यह जनहित में है और (ii) उक्त बचाव का आह्वान करने का अनुरोध प्रामाणिक है।

16. आर. के. जैन 6 में इस न्यायालय की दो न्यायाधीशों की पीठ को 1971 के अधिनियम की धारा 13 पर विचार करने का अवसर मिला, जिसे 2006 के अधिनियम 6 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था। पैरा 39 (रिपोर्ट का पृष्ठ 311) में न्यायालय ने कहाः

".....प्रतिस्थापित धारा 13 हमारी मूल्य प्रणाली के मूल सिद्धांतों में से एक यानी सत्य की एक महत्वपूर्ण विधायी मान्यता का प्रतिनिधित्व करती है। संशोधित धारा न्यायालय को सक्षम बनाती है कि अदालत किसी भी अवमानना कार्यवाही में एक वैध बचाव के रूप में सच्चाई से औचित्य की अनुमति देने के योग्य है। यदि यह संतुष्ट

है कि ऐसा बचाव सार्वजनिक हित में है और बचाव का आह्वान करने का अनुरोध प्रामाणिक है। हमारे विचार में, यदि किसी भाषण या लेख, संपादकीय आदि में कुछ ऐसा है जो अवमाननापूर्ण प्रतीत होता है और इस न्यायालय या उच्च न्यायालय को अधिनियम और संविधान के अनुच्छेद 129 और 215 के तहत कार्यवाही शुरू करने के लिए कहा जाता है, तो सच्चाई को आमतौर पर बचाव के रूप में तब तक अनुमति दी जानी चाहिए जब तक कि न्यायालय को यह पता न चले कि यह अदालत को बदनाम करने के जानबूझकर या दुर्भावनापूर्ण प्रयास के परिणामों से बचने के लिए केवल एक छल है या न्याय के प्रशासन में हस्तक्षेप है। चूंकि, याचिकाकर्ता ने यह भी सुझाव नहीं दिया है कि संपादकीय में जो उल्लेख किया गया है वह गलत है या प्रतिवादी ने तथ्यों का विकृत संस्करण प्रस्तुत किया है, इसलिए प्रतिवादी के इस दावे को खारिज करने के लिए कोई वारंट नहीं है कि उसने जो कुछ भी लिखा है वह सही तथ्यों पर आधारित है और संपादकीय लिखने का एकमात्र उद्देश्य संबंधित अधिकारियों को सुधारात्मक/उपचारात्मक उपाय करने में सक्षम बनाना था।"

इस प्रकार, दोनों न्यायाधीशों की पीठ ने अभिनिर्धारित किया है कि संशोधित धारा किसी भी अवमानना कार्यवाही में सत्य द्वारा औचित्य को एक वैध बचाव के रुप में अनुमत करने हेतु सक्षम बनाता है। न्यायालय किसी भी अवमानना में एक वैध बचाव के रूप में सत्य द्वारा औचित्य की अनुमति देगा यदि यह संतुष्ट है कि ऐसा बचाव जनहित में है और बचाव का आह्वान करने का अनुरोध प्रामाणिक है। हम आर. के. जैन में दो न्यायाधीशों की पीठ के विचार को स्वीकार करते हैं। दूसरे प्रश्न के संबंध में आगे कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अवमानना कानून में संशोधन ने इस प्रश्न को प्रभावी रूप से निरर्थक बना दिया है।

17. अब पहले प्रश्न पर विचार करना उचित है कि क्या उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश जो 1952 अधिनियम के तहत केन्द्र सरकार द्वारा एक आयुक्त के रुप में नियुक्त किया जाता है, अपने साथ सर्वोच्च न्यायालय की सभी शक्तियाँ एवं अधिकार क्षेत्र संभालता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए, दो अधिनियमों, अर्थात् 1971 अधिनियम और 1952 अधिनियम के प्रासंगिक प्रावधानों का उल्लेख करना उचित है। 1971 का अधिनियम न्यायालयों की अवमानना को दंडित करने में कुछ न्यायालयों की शक्तियों को परिभाषित करने और सीमित करने और उनके संबंध में उनकी प्रक्रिया को विनियमित करने के लिए संसद द्वारा अधिनियमित है। धारा 2 (ए) "अदालत की अवमानना" को 'नागरिक अवमानना' या 'आपराधिक अवमानना' के रूप में परिभाषित करती है। दीवानी अवमानना को धारा 2 (बी) में परिभाषित किया गया है जबकि धारा 2 (सी) आपराधिक अवमानना को परिभाषित करती है। दीवानी अवमानना की परिभाषा को छोड़ते हुए, हम 1971 के अधिनियम में आपराधिक अवमानना की परिभाषा को पुनः प्रस्तुत कर सकते हैं, जिसमें कहा गया हैः

> "2(सी) "आपराधिक अवमानना" का अर्थ किसी विषय या कोई अन्य कार्य करने में एक प्रकाशन (चाहे शब्दों द्वारा, बोले गए या लिखित, या संकेतों द्वारा, या दृश्य द्वारा किसी मामले का प्रतिनिधित्व या अन्यथा) है, जो
>
> (i) किसी भी अदालत को बदनाम करने या बदनाम करने की प्रवृत्ति रखता है, या उसके अधिकार को कम करता है या
>
> (ii) पूर्वाग्रह, या किसी भी न्यायिक कार्यवाही के नियत पाठ्यक्रम में हस्तक्षेप या हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति; या
>
> (iii) किसी अन्य तरीके से न्याय के प्रशासन में हस्तक्षेप करता है या हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति रखता है या बाधित करता है या बाधा डालने की प्रवृत्ति रखता है।"

18. पहले प्रश्न का उत्तर देने के लिए खंड (i) में "न्यायालय", खंड (ii) में "न्यायिक कार्यवाही" और धारा 2 (c) के खंड (iii) में "न्याय का प्रशासन" ये तीन अभिव्यक्तियाँ वास्तव में महत्वपूर्ण हैं। 1971 अधिनियम की धारा 12 और 15 अन्य दो धाराएँ हैं जिनका कुछ प्रभाव है। धारा 12 न्यायालय की अवमानना के लिए सजा निर्धारित करती है। धारा 15 उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा अपने स्वयं के प्रस्ताव पर या महाधिवक्ता या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा महाधिवक्ता की लिखित सहमति से किए गए प्रस्ताव पर आपराधिक अवमानना का संज्ञान लेने से संबंधित है। उच्चतम न्यायालय के संबंध में धारा 15 (1) के खंड (ए) और (बी) में "महाधिवक्ता" पद का अर्थ है महान्यायवादी या महान्यायिकर्ता।

19. 1952 अधिनियम में जांच आयोगों की नियुक्ति और ऐसे आयोगों को कुछ शक्तियां प्रदान करने का प्रावधान है। धारा 2 (ए) (i) "उपयुक्त सरकार" को परिभाषित करती है जिसका अर्थ संविधान के सातवीं अनुसूची में सूची I या सूची II या सूची III में उल्लिखित किसी प्रविष्टि से संबंधित विषय में जाँच करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा एक आयोग नियुक्त करने के संबंध में हो एवं संविधान के सातवीं अनुसूची में सूची II पर सूची III में उल्लिखित किसी प्रविष्टि सं संबंधित विषय में जाँच करने हेतु राज्य सरकार द्वारा एक आयोग नियुक्त करने के संबंध में हो। जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में एक अलग प्रावधान है। धारा 4 और 5 आयोग की शक्तियों और अतिरिक्त शक्तियों से संबंधित हैं। धारा 4 के तहत, आयोग के पास दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 के तहत एक मुकदमे की सुनवाई करते समय दीवानी अदालत की शक्तियां इन मामलों के संबंध में हैं, अर्थात्, (ए) भारत के किसी भी हिस्से से किसी भी व्यक्ति को बुलाना और उसकी उपस्थिति को लागू करना और शपथ पर उसकी जांच करना; (बी) किसी भी दस्तावेज की खोज और पेश करने की आवश्यकता है, (सी) शपथपत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करना; (डी) किसी भी अदालत या कार्यालय से किसी भी सार्वजनिक रिकॉर्ड या उसकी प्रति की मांग करना; (ई) गवाहों या

दस्तावेजों आदि की जांच के लिए अधिकार जारी करना। धारा 5 (4) के तहत, आयोग को एक दीवानी अदालत माना जाता है और जब कोई अपराध जैसा कि भारतीय दंड संहिता की धारा 175, धारा 178, धारा179, धारा 180 या धारा 228 में वर्णित है। आयोग की उपस्थिति में की जाती है, आयोग, अपराध का गठन करने वाले तथ्यों और आपराधिक प्रक्रिया संहिता में प्रदान किए गए अभियुक्त के बयान को दर्ज करने के बाद, मामले को मजिस्ट्रेट के पास भेज सकता है, जिसे इस पर मुकदमा चलाने की अधिकारिता है। धारा 5 (5) के तहत, इससे पहले की कोई भी कार्यवाही आयोग के समक्ष भारतीय दंड संहिता की धारा 193 और 228 के अर्थ के भीतर एक न्यायिक कार्यवाही माना जाता है।

20. धारा 5ए आयोग को जाँच से संबंधित जाँच हेतु कुछ अधिकारियों एवं जाँच एजेंसियों की सेवाओं का उपयोग करने का अधिकार देती है। धारा 10 आयोग के प्रत्येक सदस्य के लिए प्रावधान करती है और अधिनियम के तहत कार्यों के प्रयोग में आयोग द्वारा नियुक्त या अधिकृत प्रत्येक अधिकारी को आई. पी. सी. की धारा 21 के अर्थ के भीतर एक लोक सेवक माना जाता है।

21. धारा 10ए आयोग या उसके किसी सदस्य को बदनाम करने के लिए किए गए कार्यों के लिए दंड का प्रावधान करती है। यह प्रावधान उच्च न्यायालय को उप-धारा (1) में बताए किसी अपराध हेतु आयोग के किसी सदस्य या आयोग की ओर से प्राधिकृत किसी पदाधिकारी के लिखित शिकायत पर संज्ञान लेने की शक्ति देता है। उप-धारा (5) के तहत, उप-धारा (1) के तहत किसी अपराध का संज्ञान लेते हुए उच्च न्यायालय को मजिस्ट्रेट की अदालत के समक्ष पुलिस रिपोर्ट के अलावा अन्यथा स्थापित वारंट मामलों के मुकदमे की प्रक्रिया के अनुसार मामले का मुकदमा चलाने का आदेश दिया गया है। धारा 10ए निम्नानुसार हैः

"10ए. आयोग या उसके किसी सदस्य को बदनाम करने के लिए किए गए कार्यों के लिए दंड।

(1) यदि कोई व्यक्ति, बोले गए या पढ़े जाने के इरादे वाले शब्दों द्वारा, कोई बयान देता है या प्रकाशित करता है या कोई अन्य कार्य करता है, जिसकी गणना आयोग या उसके किसी सदस्य को बदनाम करने के लिए की जाती है, तो वह साधारण कारावास जो छह महीने तक बढ़ सकता है, या जुर्माने के साथ, या दोनों के साथ दंडनीय होगा।

(2) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) में किसी बात के बावजूद भी जब उप-धारा (1) के तहत कोई अपराध कथित रूप से किया गया है, तो उच्च न्यायालय आयोग के किसी सदस्य या इस संबंध में उसके द्वारा प्राधिकृत आयोग के किसी अधिकारी द्वारा लिखित रूप में की गई शिकायत पर, इसे मामला की सुपूर्दगी के बिना, ऐसे अपराध का संज्ञान ले सकता है।

(3) उप-धारा (2) में निर्दिष्ट प्रत्येक शिकायत उन तथ्यों को सामने रखेगी जो कथित अपराध का गठन करते हैं, ऐसे अपराध की प्रकृति और ऐसे अन्य विवरण जो अभियुक्त को उसके द्वारा किए गए कथित अपराध की सूचना देने के लिए उचित रूप से पर्याप्त हैं।

(4) कोई भी उच्च न्यायालय उप-धारा (1) के तहत किसी अपराध का संज्ञान नहीं लेगा जब तक कि शिकायत जिस तारीख को अपराध करने का आरोप लगाया गया है, उस तारीख से छह महीनों के अंदर नही की जाती है।

(5) उप-धारा (1) के तहत किसी अपराध का संज्ञान लेते हुए उच्च न्यायालय मजिस्ट्रेट के न्यायालय के समक्ष पुलिस रिपोर्ट के अलावा अन्यथा स्थापित वारंट

मामलों के मुकदमे की प्रक्रिया के अनुसार मामले की सुनवाई करेगाःबशर्ते कि ऐसे मुकदमे में शिकायतकर्ता के रूप में या अन्यथा आयोग के किसी सदस्य की व्यक्तिगत उपस्थिति की आवश्यकता नहीं है।

(6) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) में कुछ भी निहित होने के बावजूद, एक अपील तथ्यों और कानून दोनों पर उच्च न्यायालय के किसी भी निर्णय से सर्वोच्च न्यायालय में अधिकार के मामले के रूप में होगी।

(7) उप-धारा (6) के तहत सर्वोच्च न्यायालय में प्रत्येक अपील को अपील किए गए निर्णय की तारीख से तीस दिनों की अवधि के भीतर वरीयता दी जाएगीः

बशर्ते कि सर्वोच्च न्यायालय तीस दिनों की उक्त अवधि की समाप्ति के बाद एक अपील पर विचार कर सकता है यदि यह संतुष्ट हो कि अपीलार्थी के पास तीस दिनों की अवधि के भीतर अपील को प्राथमिकता नहीं देने के लिए पर्याप्त कारण था।"

22. जैसा कि ऊपर से देखा जा सकता है, आयोग के पास उस धारा में निर्दिष्ट सीमित उद्देश्य के लिए दीवानी न्यायालय की शक्तियाँ है। इसे धारा 5 (4) के प्रयोजनों के लिए एक दीवानी अदालत के रूप में भी माना जाता है। आयोग के समक्ष कार्यवाही को भारतीय दंड संहिता की धारा 193 एवं 228 के अर्थ के भीतर न्यायिक कार्रवाई माना जाता है। लेकिन असली मुद्दे इस प्रकार हैंः क्या उपरोक्त प्रावधान विशेष रूप से और 1952 का अधिनियम आम तौर पर उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश वाले आयोग को धारा 2 (सी) (i) के तहत "न्यायालय" के अर्थ के भीतर लाएगा? क्या आयोग के समक्ष कार्यवाही धारा 2 (सी) (ii) के प्रयोजनों के लिए न्यायिक कार्यवाही है?क्या ऐसे आयोग का कार्यकरण धारा 2 (सी) (iii) के अर्थ में न्याय प्रशासन का हिस्सा है?

23. हमें इस बात में कोई संदेह नहीं है कि 1952 के अधिनियम के तहत नियुक्त आयोग के कार्य न्यायिक कार्यों या न्यायिक शक्ति का निर्वहन करने वाले निकाय की तरह नहीं हैं। 1952 के अधिनियम के तहत नियुक्त आयोग हमारे विचार में न्यायालय नहीं है और आयोग द्वारा तथ्यों की जांच या निर्धारण करना न्यायिक चरित्र का नहीं है।

24. भारतीय दंड संहिता की धारा 19 और 20 "न्यायालय" और " न्याय का न्यायालय" शब्दों को निम्नानुसार परिभाषित करती हैः

> “19 "न्यायाधीश" शब्द न केवल हर उस व्यक्ति को संदर्भित करता है जिसे आधिकारिक तौर पर न्यायाधीश के रूप में नामित किया गया है, बल्कि हर उस व्यक्ति को भी संदर्भित करता है, जिसे किसी भी कानूनी कार्यवाही, दीवानी या आपराधिक, एक निश्चित निर्णय या एक निर्णय, जिसके खिलाफ यदि अपील नही की जाती है तो यह निश्चित होगा, या एक निर्णय जिसकी किसी अन्य प्राधिकरण द्वारा पुष्टि की जाती है तो यह निश्चित होगा या
>
> जो व्यक्तियों का एक निकाय है एवं व्यक्तियों के ऐसे निकाय को ऐसा निर्णय देने के वास्ते कानून द्वारा सशक्त किया गया है।
>
> 20. "न्याय का न्यायालय" शब्द एक ऐसे न्यायाधीश को दर्शाता है जिसे कानून द्वारा अकेले न्यायिक रूप से कार्य करने का अधिकार है, या न्यायाधीशों का एक निकाय जिसे न्यायिक रुप से कार्य करने हेतु कानून द्वारा सशक्त किया गया है, एवं जब ऐसा न्यायाधीश या न्यायाधीशों का निकाय न्यायिक रूप से कार्य कर रहा हो।”

25. हालाँकि 1971 का अधिनियम 'न्यायालय' शब्द को परिभाषित नहीं करता है, लेकिन हमारी राय में, उस अधिनियम के तहत 'न्यायालय' का अर्थ है वह प्राधिकरण जिसके पास निर्णय देने की कानूनी शक्ति है, जिसकी यदि किसी अन्य प्राधिकरण द्वारा पुष्टि की

जाती है, तो यह निश्चित होगा। न्यायालय एक ऐसी संस्था है जिसके पास निश्चित निर्णयों के प्रदान द्वारा कानूनी अधिकारों को विनियमित करने और कानूनी प्रतिबंधों द्वारा अपने आदेशों को लागू करने की शक्ति है और यदि इसकी प्रक्रिया साक्ष्य लेने और शपथ के प्रशासन जैसे मामलों में न्यायिक है, तो यह एक न्यायालय है। 1952 के अधिनियम के तहत गठित आयोग न्यायालय के ये उत्कृष्ठ परीक्षण को पूरा नही करते है।

26. स्टीफन के अनुसार (इंग्लैंड के कानूनों पर स्टीफन की टिप्पणियां, 6 ठा संस्करण, पृष्ठ 383) प्रत्येक न्यायालय में, कम से कम तीन घटक भाग होने चाहिए-'अभिनेता', 'रियूस' और 'जूडेक्स': 'कर्ता', जो की गई चोट की शिकायत करता है; 'कारण' या प्रतिवादी, जिसे संतुष्ट करने के लिए बुलाया जाता है; और 'न्यायिक' या न्यायिक शक्ति, जो तथ्य की सच्चाई की जांच करने और तथ्य पर उत्पन्न होने वाली कानून का निर्धारण करने के लिए है और यदि कोई चोट की गई प्रतीत होती है, तो इसका पता लगाने के लिए और इसके अधिकारियों द्वारा उपचार लागू करने के लिए।

27. भारत बैंक लि. में, संविधान पीठ को इस सवाल के साथ पकड़ा गया था कि क्या औद्योगिक न्यायाधिकरण भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अर्थ के भीतर एक अदालत है। मेहर चंद महाजन, न्यायाधीश (जैसा कि वे उस समय थे) ने हडर्ट पार्कर एंड कंपनी में सी. जे. ग्रिफ़िथ के बयान का उल्लेख किया और कहा, "यदि कोई निकाय जिसके पास बाध्यकारी एवं अधिकारिक निर्णय देने की शक्ति है एवं कार्रवाई करने में सक्षम है ताकि उस निर्णय को लागू किया जा सके, तभी, लेकिन केवल तभी, उद्धृत परिभाषा के अनुसार, न्यायिक शक्ति के सभी गुण स्पष्ट रूप से मौजूद हैं। मुखर्जी, जे. ने शेल कंपनी 9, हडर्ट पार्कर एंड कंपनी और रोला कंपनी के विचारण पर कहा, "एक अन्य मौलिक परीक्षण जो एक न्यायिक को अर्ध-न्यायिक या प्रशासनिक निकाय से अलग करता है, वह यह है कि पहला कानून के अनुसार विवादों का फैसला करता है, जबकि अवरोक्त अपने निर्णय के लिए

कानून का सख्ती से पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। पक्षों द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य पर तथ्यों की जांच एक सामान्य विशेषता हो सकती है न्यायिक और अर्ध-न्यायिक दोनों न्यायाधिकरण, लेकिन दोनों के बीच का अंतर इस तथ्य में निहित है कि न्यायिक कार्यवाही में न्यायाधीश को पाए गए तथ्यों, देश का कानून जो निर्धारित एवं एकसमान है, पर लागू होना पड़ता है। दूसरी ओर, अर्ध-न्यायिक न्यायाधिकरण, पक्षों के बीच मतभेदों पर अपना निर्णय कानून के निश्चित नियमों के अनुसार नहीं बल्कि प्रशासनिक नीति या सुविधा के सिद्धांतों या किसी विशेष मामले की परिस्थितियों में न्यायसंगत और उचित प्रतीत होने पर देता है। अन्य शब्दों में, एक प्रशासनिक न्यायाधिकरण द्वारा इसके निर्णय पर आने में नियोजित प्रक्रिया वह नहीं है जिसे "न्यायिक प्रक्रिया" के रूप में जाना जाता है।

28. ब्रजनंदन सिन्हा में, इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ को इस सवाल पर विचार करने का अवसर मिला कि क्या लोक सेवक (पूछताछ) अधिनियम, 1850 (1850 का अधिनियम 37) के तहत नियुक्त आयुक्त एक न्यायालय है। उस मामले में, कोक ऑन लिटिलटन एंड स्ट्रॉड को संदर्भित किया गया था जिसमें कहा गया था कि "कोर्ट" वह स्थान है जहाँ न्याय न्यायिक रूप से प्रशासित किया जाता है। न्यायालय ने भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 और भारतीय दंड संहिता की धारा 19 और 20 पर भी विचार किया और फिर कहा, इस प्रकार निश्चित निर्णय को किसी न्यायालय की अनिवार्य अनिवार्यता माना जाता है और जब तक कि कोई बाध्यकारी और आधिकारिक निर्णय किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय द्वारा घोषित नही होता है, यह निश्चयपूर्वक नहीं की जा सकती है कि वह या वे एक न्यायालय का गठन करते हैं। भारत बैंक लि. को भी संदर्भित किया गया था और अतः मकबूल हुसैन और एस.ए. वेंकटरमण में इस न्यायालय के निर्णय को भी और यह उल्लेख किया गया कि एस.ए. वेंकटरमण में जो मकबूल हुसैन का आगामी था, संविधान पीठ ने निर्धारित किया कि अंतिमता और आधिकारिकता दोनों ही न्यायिक निर्णय की आवश्यक परीक्षाएँ हैं। न्यायालय ने कहा कि इस शब्द के सख्त अर्थों में न्यायालय का गठन करने के

लिए, एक आवश्यक शर्त यह है कि न्यायालय के पास के अलावा, न्यायिक न्यायाधिकरण की कुछ विशेषताएँ होने पर, निर्णय देने की शक्ति या एक निश्चित निर्णय जिसमें अंतिमता और प्राधिकार होता है एवं जो न्यायिक घोषणा के आवश्यक परीक्षण है। संदर्भ के साथ लोक सेवक (पूछताछ) अधिनियम बनाम न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1952 के प्रावधानों के अनुसार, तीन न्यायाधीशों की पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि लोक सेवक (पूछताछ) अधिनियम के तहत नियुक्त आयुक्त अदालत की अवमानना अधिनियम, 1952 के अर्थ में एक न्यायालय नहीं है।

29. हम ब्रजनंदन सिन्हा में उजागर की गई कानूनी स्थिति से पूरी तरह सहमत हैं और इसे मंजूरी देते हैं।

30. मद्रास उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ का फैसलाःश्री हेल्स, "द मेल" और एक अन्य के संपादक अब विचार के पात्र हैं। यह एक ऐसा मामला था जिसमें मद्रास उच्च न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश को औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 7 के तहत औद्योगिक न्यायाधिकरण के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया था। कथित अवमानना जिसके लिए अवमानकर्ताओं पर अवमानना का आरोप लगाया गया था, दोनों औद्योगिक न्यायाधिकरण के लिए कार्यवाही के संबंध में थे यद्यपि औद्योगिक न्यायाधिकरण की अध्यक्षता मद्रास उच्च न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश ने की थी। समाचार पत्र "द मेल" के स्वामित्व वाली अमालगामेशंस लिमिटेड के कर्मचारियों और प्रबंधनों के बीच विवाद औद्योगिक न्यायाधिकरण के समक्ष निर्णय के लिए आया। न्यायाधिकरण ने संपादक गोविंद स्वामीनाथन और संपादक हेल्स के वकील को कारण बताने के लिए अवमानना नोटिस जारी किया था कि के खिलाफ कार्रवाई क्यों की गई। न्यायाधिकरण की आलोचना के लिए उनके खिलाफ अवमानना की कार्रवाई क्यों शुरू नहीं की जा सकती है। प्रत्यर्थी ने कारण दर्शाओ नोटिस को इस आधार पर चुनौती दी कि न्यायाधिकरण, हालांकि एक मौजूदा न्यायाधीश की

अध्यक्षता में, अवमानना के लिए दंडित करने की शक्ति नहीं रखता है। उपरोक्त चुनौती पर विचार करते हुए, मद्रास उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने निर्णय दिया कि उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश को जब औद्योगिक न्यायाधिकरण के एकमात्र सदस्य के रूप में नियुक्त किया जाता है, तो उसे उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की शक्तियां नहीं होती हैं जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 215 के तहत भी न्यायाधिकरण की अवमानना के लिए व्यक्तियों को दंडित कर सकते हैं।

31. पी. राजंगम में मद्रास उच्च न्यायालय की खंड पीठ के पास इस सवाल पर विचार करने का अवसर था कि क्या मद्रास सरकार द्वारा जारी पुलिस स्थायी आदेश के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 176 के साथ पठित मद्रास सरकार द्वारा जारी पुलिस स्थायी आदेश के तहत मजिस्ट्रेट द्वारा की गई जांच को रद्द करने के लिए उत्पेषण-लेख का एक रिट जारी किया जा सकता है। इस प्रश्न से निपटते समय, इस तरह की जांच की प्रकृति के संबंध में मद्रास उच्च न्यायालय की खंड पीठ के समक्ष विचाराधीन प्रमुख पहलू यह था कि क्या यह न्यायिक या अर्ध न्यायिक या गैर न्यायिक था। खंड पीठ ने ब्रजनंदन सिन्हा में इस न्यायालय के निर्णय का उल्लेख किया और अंततः यह अभिनिर्धारित किया कि इस तरह की जांच का उद्देश्य ऐसी सामग्री प्रस्तुत करने के अलावा और कुछ नहीं है जिस पर कार्रवाई की जा सकती है या नहीं और रिपोर्ट अपने आप में विशुद्ध रूप से अनुशंसा करने वाली होगी न कि एक प्रभावी प्रोप्रिओ वीगर।

32. श्री राम कृष्ण डालमिया में, इस न्यायालय ने कहा कि 1952 के अधिनियम के तहत आयोग द्वारा की गई जांच न तो न्यायिक थी और न ही अर्ध-न्यायिक कार्यवाही जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत उचित रिट के मुद्दे को आकर्षित करने वाली हो।

33. डॉ. बलिराम वामन हिरय मामले में इस न्यायालय की दो न्यायाधीशों की पीठ इस सवाल से चिंतित थी कि क्या 1952 के अधिनियम की धारा 3 के तहत गठित एक जांच आयोग, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 195 (1) (बी) के प्रयोजनों के लिए एक न्यायालय है। न्यायालय ने टिप्पणी कीः

"जाँच आयोग उचित रूप से तथाकथित न्यायालय नहीं है। एक आयोग स्पष्ट रूप से उपयुक्त सरकार द्वारा अपने मन की जानकारी के लिए' नियुक्त किया जाता है ताकि वह आगे की कार्रवाई के बारे में निर्णय ले सके। इसलिए यह एक तथ्य-खोज निकाय है और पक्षकारों के अधिकारों पर निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं है और इसका कोई न्यायनिर्णायक कार्य नहीं है। सरकार इसके अनुशंसाओं को स्वीकार करने के लिए या इसके निष्कर्षों पर कार्य करने हेतु बाध्य नहीं है। केवल यह तथ्य कि इसके द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया एक कानूनी चरित्र की है और इसके पास शपथ दिलाने की शक्ति है, इसे अदालत का दर्जा नहीं देगा।"

न्यायालय ने आगे कहाः

"एक अदालत के लिए कम से कम एक 'निश्चित निर्णय' देने की क्षमता की आवश्यकता होती है, और केवल इसलिए कि उसके द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया एक कानूनी चरित्र की है और उसके पास शपथ दिलाने की शक्ति है, से उसे अदालत का दर्जा नहीं मिलेगा। ऐसा होने पर, यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि आयोग की जाँच अधिनियम की धारा 3 (1) के तहत उपयुक्त सरकार द्वारा नियुक्त एक जांच आयोग मामले में संहिता की धारा 195 के उद्देश्य के लिए एक अदालत नहीं है।"

33.1. न्यायालय एम. भी. राजवाड़े में नागपुर उच्च न्यायालय की निम्नलिखित टिप्पणियों से सहमत थाः

"प्रश्नगत आयोग को स्पष्ट रूप से राज्य सरकार द्वारा "अपने मन की जानकारी के लिए नियुक्त किया गया था" ताकि वह अपने अधिकारियों के खिलाफ विभागीय जांच का आदेश देने में "न्याय और समानता के आदेशों के अनुसार के अलावा" अपनी कार्यकारी शक्ति का प्रयोग करते हुए कार्य न करे। इसलिए, यह एक तथ्य-खोज निकाय था जिसका उद्देश्य केवल न्यायिक प्रकृति के किसी भी दस्तावेज को पेश किए बिना सरकार के दिमाग को निर्देश देना था। दोनों मामले समानांतर हैं, और निर्णय 'महाराजा माधव सिंह (डी)' [एल. आर. (1905) 31 आई. ए. 239] में होना चाहिए कि आयोग कोई अदालत नहीं थी।

अदालत की अवमानना अधिनियम, 1952 में "अदालत" शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 में इसकी परिभाषा विस्तृत नहीं है और केवल अधिनियम के उद्देश्यों के लिए है। तथापि, न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1952 "न्याय की अदालत" पर विचार करें, जिसे दंड संहिता, 1860 की धारा 20 में परिभाषित किया गया है, "एक ऐसे न्यायाधीश को दर्शाता है जिसे कानून द्वारा न्यायिक रूप से कार्य करने का अधिकार है। ""न्यायाधीश" शब्द को धारा 19 में प्रत्येक व्यक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है -

'जिसे कानून द्वारा किसी भी कानूनी कार्यवाही दीवानी या आपराधिक, एक निश्चित निर्णय, या एक निर्णय देने का अधिकार है, जिसके खिलाफ यदि अपील नहीं की जाती है, तो यह निश्चित या निर्णय होगा जिसकी, यदि किसी अन्य प्राधिकरण द्वारा पुष्टि की जाती है, तो यह निश्चित होगा।

उपरोक्त परिभाषा में "न्याय की अदालत" का न्यूनतम परीक्षण इसलिए, एक निर्णय देने की कानूनी शक्ति है, जिसकी यदि किसी अन्य प्राधिकरण द्वारा पुष्टि की जाती है, तो निश्चित होगा। लोक सेवक (पूछताछ) अधिनियम, 1850 के तहत नियुक्त आयोग के साथ ऐसा मामला है, जिसकी सिफारिशें एक निश्चित निर्णय का गठन सरकार द्वारा पुष्टि के उपरान्त

करती है। हालाँकि, जाँच आयोग अधिनियम, 1952 के तहत नियुक्त आयोग का मामला नही, जिसके निष्कर्षों को कानून द्वारा किसी भी स्तर पर किसी भी प्राधिकरण द्वारा पुष्टि के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता है ताकि अंतिम निर्णय की प्रकृति को ग्रहण किया जा सके।

34. हम डॉ. बलिराम वामन हिरय 17 के दृष्टिकोण से सहमत हैं और एम.भी. राजवाड़े 18 में नागपुर उच्च न्यायालय के फैसले को मंजूरी देते हैं। हम श्री मोहन परासरन, विद्वान सॉलिसिटर जनरल की इस दलील से भी सहमत हैं कि 1952 के अधिनियम के तहत नियुक्त आयोग एक वैधानिक आयोग की प्रकृति का है और केवल इसलिए कि जाँच आयोग की अध्यक्षता उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश द्वारा की जाती है, यह इस न्यायालय की विस्तारित शाखा नहीं बन जाती है। 1952 के अधिनियम के तहत गठित आयोग एक तथ्य खोजने वाला निकाय है जो उपयुक्त सरकार को अनुसरण की जाने वाली कार्रवाई के बारे में निर्णय लेने में सक्षम बनाता है। इस तरह के आयोग को पक्षकारों के अधिकारों पर निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं है और इसका कोई न्यायिक कार्य नहीं है। सरकार इसकी सिफारिशों को स्वीकार करने या इसके निष्कर्षों पर कार्रवाई करने के लिए बाध्य नहीं है। केवल यह तथ्य कि आयोग द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया कानूनी प्रकृति की है और इसके पास शपथ दिलाने की शक्ति है। इसे न्यायालय का दर्जा नहीं देगी। ऐसा होने पर, हमारे विचार में, 1952 के अधिनियम के तहत नियुक्त आयोग न्यायालय की अवमानना अधिनियम के प्रयोजनों के लिए एक न्यायालय नहीं है, भले ही इसकी अध्यक्षता उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश कर रहे हों। इसके अलावा, 1952 के अधिनियम की धारा 10ए इस बात में कोई संदेह नहीं छोड़ती है कि उच्च न्यायालय को आयोग या उसके किसी सदस्य को बदनाम करने के लिए किए गए कार्यों के संबंध में शिकायत का संज्ञान लेने की शक्ति प्रदान की गई है। धारा 10ए को रचनात्मक अवमानना

की, इस न्यायालय में अपील के अधिकार के साथ उच्च न्यायालय को निर्देश देकर आयोग को शक्ति प्रदान करता है। इसलिए, पहले प्रश्न का हमारा उत्तर नकारात्मक है।

35. उपरोक्त कारणों को ध्यान में रखते हुए, अवमानना याचिकाओं को खारिज कर दिया जाता है और अवमानना नोटिसों को रद्द कर दिया जाता है।

कल्पना के. त्रिपाठी अवमानना याचिका ख़ारिज

1. [अवमानना याचिका (अपराधिक) 1990 का सं. 11 डॉ. सुब्रमण्यम स्वामी बनाम अरुण शौरी]

2. [अवमानना याचिका (अपराधिक) 1990 का सं. 12 श्री अरुण शौरी के मामले में]

3. ये अवमानना मामले न्यायमूर्ति श्री कुलदिप सिंह द्वारा केन्द्र सरकार द्वारा गठित जाँच आयोग के अध्यक्ष के रुप में उनके रिपोर्ट के समर्पण के पश्चात कथित अवमाननाकर्ताओं द्वारा उनके (माननीय न्यायमूर्ति) खिलाफ की गई टिप्पणियों से संबंधित है।

अवमानना याचिका सं.- 9/90 में कथित अवमाननकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वत वरिष्ठ वकील, श्री डी.डी. ठाकुर ने एक आपत्ति जताई कि याचिका विचारणीय नहीं है चूँकि न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 15 द्वारा अपेक्षित सहमति भारत के महान्यायवादी या भारत के सॉलिसिटर जनरल द्वारा प्राप्त नहीं किए गए थे। एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अटॉर्नी जनरल या सॉलिसिटर जनरल के सहमति के बगैर कथित अवमाननाकर्ताओं के खिलाफ स्वतः संज्ञान लेते हुए कार्रवाई शुरु की जा सकती है। हालांकि, श्री डी.डी. ठाकुर ने कहा है कि चूँकि कथित अवमानना एक वर्ष से अधिक पूर्व उत्पन्न हुई, अतः न्यायालय का अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 20ए कथित अवमाननाकर्ता के खिलाफ एक प्रतिबंध के रुप में कार्य करेगा। 1990 की अवमानना याचिका सं. 11 एवं 12 में महान्यायवादी ने अपनी राय में यह विचार व्यक्त किया है कि जब उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को जाँच आयोग में आयुक्त के रूप में नियुक्त किया जाता है, तो वह उच्चतम न्यायालय की सभी शक्तियों और अधिकार क्षेत्र को अपने साथ नहीं रखता है एवं इसलिए उनके द्वारा निष्पादित वैधानिक कार्य सर्वोच्च न्यायालय में निहित अधिकार क्षेत्र से स्वतंत्रता हैं एवं उच्चतम न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश द्वारा एक आयुक्त के रुप में उनके द्वारा किए गए वैधानिक कार्यों के संबंध में कथित अवमानना कानूनी रूप से स्वयं सर्वोच्च न्यायालय की अवमानना नहीं माना जा सकता है। कथित अवमानकों के विद्वान वकील ने आग्रह किया है कि अवमानना कार्यवाहियों सच्चाई को बचाव के रूप में पेश किया जा सकता है एवं पर्सपेक्टिव पब्लिकेशन्स (प्रा.) लि. एवं एक अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य, (1969) 2 एस. सी. आर. 779 पर इस न्यायालय द्वारा फिर से विचार करने की आवश्यकता है। हमारी राय में, इन मामलों में विचार के लिए जो प्रश्न उत्पन्न होता है, वे एक सामान्य सार्वजनिक महत्व के हैं जिन पर एक संविधान पीठ द्वारा विचारण की आवश्यकता है। इसलिए हम निर्देश देते हैं कि मामलों को संविधान पीठ के समक्ष रखा जाए।

4. एम्बर्ड बनाम त्रिनिदाद और टोबैगो के लिए अटॉर्नी-जनरल; [(1936) एसी 322]

5. राष्ट्रव्यापी समाचार पीटीवाई लिमिटेड बनामविल्स; [(1992) 177 आपराधिक 1]

6. अप्रत्यक्ष कर व्यवसायी संघ बनाम आर. के. जैन; [(2010) 8 एस. सी. सी. 281]

7. भारत बैंक लिमिटेड, दिल्ली बनाम भारत बैंक लिमिटेड, दिल्ली के कर्मचारी; दिल्ली [ए.आई.आर. 1950 एस.सी. 188]

8. हडर्ट पार्कर एंड कंपनी पीटीवाई. लिमिटेड बनाममूरहेड [8 सी. एल. आर. 330]

9. ऑस्ट्रेलिया की शेल कंपनी लिमिटेड बनाम संघीय कराधान आयुक्त [(1931) ए.सी. 275]

10. रोला कं. (ऑस्ट्रेलिया) पीटीवाई लिमिटेड बनाम राष्ट्रमंडल [69 सी. एल. आर. 185]

11. ब्रजनंदन सिन्हा बनाम ज्योति नारायण; [(1955) 2 एस सी आर 955]

12. मकबूल हुसैन बनाम बॉम्बे राज्य; [ए. आई. आर. 1953 एस. सी. 325]

13. एस. ए. वेंकटरमण बनाम भारत संघ [ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 375]

14. इन रेःश्री हेल्स, "द मेल" के संपादक और एक अन्य [ए. आई. आर. 1955 मद्रास 1]

15. पी. राजंगम, पुलिस उप-निरीक्षक और अन्य बनाम मद्रास राज्य और अन्य[ए. आई. आर. 1959 मद्रास 294]

16. श्री राम कृष्ण डालमिया बनाम न्यायमूर्ति श्री एस.आर. तेन्दोलकर एवं अन्य; [1959 एससीआर 279]

17. डॉ. बलिराम वामन हिराय बनाम न्यायमूर्ति बी. लेंटिन और अन्य; [(1988) 4 एससीसी 419]

18. एम.भी. राजवाड़े, आई. ए. एस., जिला मजिस्ट्रेट बनाम डॉ. एस. एम. हसन और अन्य; [ए. आई. आर. 1954 नागपुर 71]